

शिक्षा पर हिन्दी में ऐसे साहित्य का अभाव
नजर आता है जो बच्चों के साथ
अन्तःक्रिया से सृजित हुआ हो या शैक्षिक
संस्थानों के निर्माण में लगी सक्रिय
रचनात्मक ऊर्जा को दर्ज करता हो। इस
पुस्तक समीक्षा में ऐसी ही दो पुस्तकों को
प्रकाश में लाया गया है।

जो नहीं हो सके पूर्ण काम मैं उनको करता हूँ प्रणाम

भूमण्डलीकरण के नए दौर के साथ-साथ एक विचार दिया गया था। अंत का विचार। इतिहास का अंत। विचारधारा का अंत। संस्थाओं का अंत। अर्थात् पूंजी और मुनाफे की इस व्यवस्था में सपनों की गुंजाइश नहीं है और सपनों की अनुपस्थिति में बदलाव भला कैसे मुमकिन है ? हम भारतीयों की समस्या थोड़ी अलग है। याद करें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अमर निबंध- 'भीष्म को क्षमा नहीं किया गया', जिसमें आचार्य द्विवेदी बार-बार भीष्म के हवाले से कहते हैं- 'अत्रापिइतिहासउदाहरणम्' अर्थात् इतिहास में इसका भी उदाहरण मिलता है। तो समस्या यह है कि सब कुछ के अंत वाले दौर में एक छोटे से शहर से आई छोटी-सी पुस्तक फिर उदाहरण दे रही है। उदाहरण यह कि अपने ढंग की देसी शिक्षा संभव है। बात पुरानी नहीं है। 1931 में उदयपुर में डॉ. मोहन सिंह मेहता ने विद्या भवन सोसायटी की स्थापना की, जो गांधीवादी मूल्यों से शिक्षा का प्रसार करने वाली अग्रणी संस्था बनी। अपने इस शिक्षा स्वप्न को साकार करने के लिए डॉ. मोहन सिंह मेहता ने अध्यापकों का चुनाव यत्नपूर्वक किया और दूर-दूर से बुलाए गए इन अध्यापकों ने विद्या भवन को ऐसी संस्था बना दिया जो केवल पढ़ाई ही नहीं सिखाती थी। यहां उदाहरण देना व्यर्थ है कि विद्या भवन से पढ़कर निकले विद्यार्थियों ने क्या किया और कहां पहुंचे। अलबत्ता कोई अस्सी बरस बाद वहीं से पढ़े एक विद्यार्थी ने विद्या भवन के लगभग बीस अध्यापकों के रेखाचित्र खींचे हैं। इन परिचयात्मक रेखाचित्रों में बिखरी स्थानीय गंध विद्या भवन के बनने और अध्यापकों के बनाने की कथा सुनाती है। अव्वल यह कि अस्सी बरस पुराने मास्टर साहबों को कौन याद करता है ! लेकिन अब्दुल अहद की पुस्तक 'विद्या भवन: उस्ताद और तालीम' ऐसा दुर्लभ अवसर देती है। पुस्तक को पढ़ते हुए पाठक भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन और बाद में देश के नवनिर्माण वाले नेहरू युग से खुद को गुजरता हुआ पाता है।

लेखक संपर्क
हिन्दू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110007

भूमिका के बाद आए प्रारंभिक अध्यायों में अब्दुल अहद ने विद्या भवन की तालीम और रवायतों का ब्यौरा दिया है जो इस संस्थान की कद काठी से पाठक को रू-ब-रू होने का अवसर देता है। वे लिखते हैं- 'अध्यापक का असली काम जीवन निर्माण की तैयारी है और संपूर्ण शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य भी यही होता है कि बालक के इरादे और कार्य की शक्ति को किसी सीधे रास्ते पर डाल दे और सत्य के सिद्धांतों के प्रकाश में अच्छी आदतों की मदद से उसके जीवन में एकसूई (Full Attention) और दृढ़ता पैदा करे। जो व्यक्ति शिक्षक बनकर शिक्षा का यह कार्य करे तो उसे स्वयं भी यह जानकारी होनी चाहिए कि वह जीवन को किस राह पर डाले। उसके स्वयं के जीवन का रंग भी तो ऐसा हो, जो प्रभावी हो और बालक पर रंग डाल सके। विद्या भवन में ऐसे अनेक अध्यापक हुए हैं। आगे वे संस्थान की सफलता का तर्क ढूंढते हुए लिखते हैं - 'इस सफलता का कारण यह रहा कि संस्था ने अध्यापकों के चयन में डिग्रियां नहीं देखीं, स्थान को महत्त्व नहीं दिया, धर्म या जाति के नाम नियुक्तियां नहीं कीं, अच्छे अध्यापकों को प्रधानाध्यापक से अधिक वेतन भी दिया और उनकी सुविधाओं का भी ध्यान रखा है। संस्था ने उनके विकास पर भी खर्च किया और अपने पैसों से बाहर पढ़ने भेजा- देश में भी और विदेश में भी।'

निश्चय ही ये वक्तव्य उत्कंठा बढ़ाते हैं कि आखिर वे कौन से अध्यापक थे जिन्होंने पहाड़ों की बुलन्दियों को छूने और पानी में गोते लगाने का हौसला पैदा किया। अपने अनुसार वे इन अध्यापकों में सबसे पहले चर्चा करते हैं डॉ. कालूलाल श्रीमाली की, जो बाद में भारत के शिक्षा मंत्री और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। असल में विद्या भवन की शुरुआत स्काउट आंदोलन के साथ हुई जिसे भी डॉ. मोहन सिंह मेहता ही संचालित कर रहे थे। उनके अध्यापन का एक प्रसंग अब्दुल अहद ने दिया है- 'एक बार ग्रुप मीटिंग में सांस्कृतिक कार्यक्रम के अधीन गाना गाने का कार्यक्रम रखा गया। सभी को गाना आवश्यक था, विद्यार्थियों ने श्रीमाली जी से गाने का अनुरोध किया। उन्होंने कहा कि मैं अभी तो नहीं गा सकूंगा, लेकिन कुछ दिनों बाद अवश्य गाऊंगा। उन्होंने संगीत अध्यापक से गाना सीखना शुरू किया और गाना सीखकर अपने विद्यार्थियों का मनोरंजन भी किया और वादा भी निभाया।' कई पुस्तकों- ग्रंथों के लेखक डॉ. कालूलाल श्रीमाली



लेखक : अब्दुल अहद
 प्रकाशक : डॉ. मोहन सिंह मेहता मेमोरियल
 ट्रस्ट, फतेहपुरा, उदयपुर
 मूल्य : 200 रुपए

शिक्षा आयोग के सदस्य भी रहे थे, शिक्षा नीतियों के निर्माण में उनका योगदान रेखांकित किया जा सकता है। ऐसे अध्यापक ने प्रधानाध्यापक के रूप में न केवल अल्प वेतन स्वीकार किया अपितु चन्दा लेने में भी संकोच नहीं किया। इंग्लैण्ड से आई कैथरीन हीलमैन, जो यहां सरला बहन हो गईं, जीवननाथ दर, दामोदर लाल शर्मा, दादा भाई केसरीलाल बोर्दिया, देवीलाल सामर, गोवर्धन लाल जोशी, दयालचंद सोनी, दीनदयाल दशोत्तर, जे. सी. डब्ल्यू., रस्ट, एस. सी. डेविड जैसे सुने-अनसुने ऐसे नामों की गहराई में जाने पर इस संस्थान की विशालता का अनुभव होता है।

वस्तुतः विचारणीय तथ्य यह है कि हम ऑक्सफोर्ड या केम्ब्रिज की ओर देखते रहें,

नालन्दा-तक्षशिला की किंवदन्तियों पर इठलाएं या शांति निकेतन-बी. एच.यू. के प्रसंग में आहें भरें- अथवा अपने आस-पास वैसा कुछ करने-होने देने में जुट जाएं जैसा डॉ. मोहन सिंह मेहता और विद्या भवन के प्रसंग में देखते हैं। संसाधनों की कमी और पिछड़ा इलाका होने पर भी मेवाड़ के एक कस्बे में विद्या भवन जैसी संस्थाओं का निर्माण संभव हो सका तो इसके पीछे बड़ा स्वप्न देखने की आकांक्षा ही विद्यमान है। इसके अध्यापकों में देवीलाल सामर भी हैं जिन्होंने लोक कला मण्डल की स्थापना कर रंगमंच और कला के क्षेत्र में बड़ा हस्तक्षेप किया। वहीं गोवर्धनलाल जोशी 'बाबा' जैसा चित्रकार इस विद्यालय से ही निकलकर मेवाड़-नाथद्वारा शैली को राष्ट्रीय कला के प्रसंग में ला पाया था। दयालचन्द्र सोनी का शिक्षा चिंतन और दीनदयाल दशोत्तर का गांधीवादी समाज दर्शन अभी भी अप्रसांगिक नहीं है तो इसके ठोस कारण हैं। कहना न होगा कि परिवर्तनों और पहल के लिए 'बड़े' का मुंह देखने की बजाय यह पुस्तक अवसर देती है कि छोटे-गंभीर और ईमानदार प्रयास करने का जोखिम कैसे उठाया जाए। अब्दुल अहद को शिक्षा के स्थान पर तालीम शब्द का प्रयोग करना पसंद है और वे इस बुनियादी तालीम के अंतर्घातों की तलाश में दूर तक जाते हैं। जानने वाले अवश्य ही पुस्तक में न आ सके कई अन्य अध्यापकों और भाषा के साधारण उपयोग पर अप्रसन्नता व्यक्त कर सकते हैं तथापि स्वीकार करना होगा कि अपने प्रयास में यह दुर्लभ पुस्तक है जो बाबा नागार्जुन के शब्दों में प्रमाण का अवसर तो देती है-

जो छोटी सी नैया लेकर
 उतरे करने को उदधि-पार

मन की मन में रही, स्वयं
हो गये उसी में निराकार।
उनको प्रणाम।

अपनी भाषा में विद्यार्थी

‘बच्चों की सृजनात्मक को बढ़ावा देने के लिए हमने पर्याप्त बाल साहित्य रचने की ओर भी ध्यान नहीं दिया और न ही उनकी रुचियों को जानने का कभी कोई प्रयास किया। हम ऐसा क्या सृजित करें जो बच्चों के हृदय को छू जाए और उनमें तरंगें भर सके। हमें बच्चों से बातचीत करके जानना चाहिए कि वे बदलते समय के साथ कैसा और क्या पढ़ना चाहते हैं।’

‘लौटना कठिन है’; पृ. 60

सुपरिचित इतिहासकार- संपादक सुधीर विद्यार्थी की नई पुस्तक ‘लौटना कठिन है’ एक डायरी है। यह डायरी 7 से 21 नवम्बर 2009 के मध्य लिखी गई थी। असल में सुधीर विद्यार्थी को पीलीभीत जिले के शिवपुरी नवदिया स्थित जवाहर नवोदय विद्यालय में रचनात्मक लेखन कार्यशाला में आमंत्रित किया गया था। इस अवधि में लिखी गई अपनी इस डायरी में विद्यार्थी जी ने स्कूली बच्चों से गहरे अपनेपन से प्राप्त पत्रों व संस्मरणों को अंकित कर दिया है। यह प्रक्रिया पुस्तक को एक साथ शिक्षाशास्त्रीय बहस और सृजनात्मक लेखन का आस्वाद देती मालूम होती है। लेखक अपने इस प्रवास में जिस चिंता से भरा दिखाई देता है वह दरअसल नई पीढ़ी में रचनात्मक लगाव से जुड़ी हुई है। कैरियर बनाने की आपाधापी वाले इस दौर में सीखने-समझने की बजाय रटने (याद कीजिए ‘श्री इंडियट’ वाले चतुर को - मैं याद कर लेगी) पर बल हो तब कविता-कहानी और चिट्ठियां भला किसे आकृष्ट कर सकते हैं ? इस रचनात्मक कार्यशाला में सुधीर विद्यार्थी किशोर विद्यार्थियों की सृजनशीलता को पहचानने का प्रयास करते हैं और उसे उभरने के लिए अवसर मुहैया करवाते हैं।

पुस्तक में शिविर में भाग ले रहे विद्यार्थियों के पत्र भी प्रकाशित किए गए हैं। बल्कि कहना चाहिए कि इन पत्रों के माध्यम से ही पुस्तक प्रवाहमान होती है। इन पत्रों को पढ़कर जाना जा सकता है कि सृजनशीलता मनुष्य का नैसर्गिक गुण है जिसे बढ़ावा देने पर सार्थक परिणाम निकलते हैं। कक्षा दस की गंगा वर्मा ने लिखा है- ‘संसार के बच्चों के लिए क्या सारी किताबों को दीमकों ने खा

लिया है, या फिर खेल मैदानों पर भवन बना दिए गए हैं, और सारी गेंदें क्या आसमान में जा चिपकी हैं- यह पूछती हूं मैं समाज से, लेखकों से। यही मेरा उद्देश्य है।’ वहीं एक और छात्र अनम समीर ने लिखा- ‘मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि मैं किसी लेखक से मिलूंगी। मेरा मानना ये था कि लेखक अपनी लेखनी तथा किताबी दुनिया के बाहर कभी देखते ही नहीं। आपको देखकर मेरा भ्रम चकनाचूर हो गया। जब मैं आपके संपर्क में आई तो मैंने जाना कि रचना किसे कहते हैं। ये कैसे की जाती है।’

गौर करने पर भी हम हिन्दी में पांच-सात से ज्यादा बाल-पत्रिकाओं के नाम याद नहीं कर पाते। रचनाशीलता को बढ़ावा देने के लिए जब उपयुक्त मंच ही तैयार नहीं है तो फिर मौलिकता और नवोन्मेष भला कैसे संभव हैं ? मंहगे अंग्रेजी स्कूलों की बात अपवाद है पर हमारे सामान्य विद्यालयों में पुस्तकालय ही बच्चों को मयस्सर नहीं। जिस शिविर का प्रसंग इस पुस्तक में आया है वह केन्द्र सरकार द्वारा संचालित जवाहर नवोदय विद्यालय में हुआ था। ऐसे शिविर भी सचमुच कितने हो पाते हैं, यह देखा जाना चाहिए।

डायरी में एक और प्रसंग क्षेत्रीय भाषाओं का है। प्रारंभ में जहां महाराष्ट्र के विधायक अबू आजमी के हिन्दी में शपथ लेने का प्रसंग आया है वहीं आगे विद्यालय के कन्नड़ अध्यापकों वेंकटरमन सुब्रह्म हेगड़े और लोहित शेट्टी से बातचीत आई है। यह बातचीत त्रिभाषा फार्मूले की याद दिलाती है जो कभी भारत में राष्ट्रभाषा की समस्या को सुलझाने के लिए अपनाया गया था। इसमें तय हुआ था कि सभी राज्य हिन्दी और अंग्रेजी के साथ तीसरी भाषा के रूप में एक ऐसी भाषा पढ़ने का अवसर देंगे जो उस प्रांत में नहीं है। मसलन मध्य प्रदेश में मलयालम और तमिलनाडु में पंजाबी। परिणति यह हुई कि हम तीसरी भाषा के रूप में संस्कृत और उर्दू पढ़ते रहे, जिससे राष्ट्रभाषा का सवाल कठिनतर होता गया। जवाहर नवोदय विद्यालयों में ऐसा नहीं है। वहां तीसरी भाषा सचमुच तीसरी ही है। लोहित जी डायरी लेखक को अपने विद्यार्थियों द्वारा तैयार कन्नड़ की दो हस्तलिखित सुंदर पुस्तकें दिखाते हैं- ‘कथा गुच्छ’ और ‘संचय सेतु’। इनमें दोनों भाषाओं की प्रतिनिधि रचनाओं का परस्पर हिन्दी व कन्नड़ अनुवाद विद्यार्थियों ने ही तैयार किया था।

डायरी लेखक सुधीर विद्यार्थी इस पन्द्रह दिवसीय कार्यशाला को अपने लिए भी



लेखक : सुधीर विद्यार्थी
प्रकाशक : शब्दालोक, सी-3/59, नागार्जुन
नगर, सादतपुर, दिल्ली-94
मूल्य : 50 रुपए, पृष्ठ-60

अविस्मरणीय मानते हैं- 'लेखकों और रचनाकारों का बच्चों से सीधे साक्षात्कार करना मुझे बहुत जरूरी लगता है। हम उनकी बातें सुनें और उनके बाह्य-भीतर झांकने की सघन कोशिशें करें। हम जबरन उन पर अपनी चीजें न थोपें। उनसे सहज संवाद बनाना ज्यादा कारगर है ताकि वे पूरी तरह खुल सकें। हमें उनकी अभिव्यक्तियों को परखने की क्षमता और दृष्टि से भी स्वयं को संपन्न करना होगा। आखिर क्यों हम बच्चों से बतियाने और उनकी दुनिया में प्रवेश करने से बचते रहते हैं। हमारी चिंता और प्राथमिकता तो यही

होनी चाहिए कि बच्चों की दुनिया सही-सलामत बची रहे। बच्चों के कोमल संसार को मारने वालों को मैं इस दुनिया के सबसे बड़े हत्यारों में शामिल करना चाहूंगा।'

निजी स्मृतियों और आत्मीय प्रसंगों ने जहां-तहां डायरी को किस्सागोई का स्वाद दिया है वहीं पर्यावरण और क्षेत्रीय अस्मितावाद जैसे मुद्दों पर भी डायरी की निगाह गई है। असल में इसे सुधीर विद्यार्थी की डायरी कहना गलत होगा, यह उस रचनात्मक शिविर की डायरी है जिसमें केवल लेखक ही नहीं है बल्कि ढेर सारे किशोर विद्यार्थी हैं अपनी भाषा लिए हुए। ♦